९

अवतारवाद या उत्तारवाद

ब्राह्मण-संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है, परंतु श्रमण-संस्कृति इस तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण-संस्कृति का आदिकाल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने-बिगाड़नेवाली शक्ति ईश्वर या अन्य किसी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जबकि लोक-प्रकल्पित सर्वसत्ताधारी ईश्वर ही कोई नहीं है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ, शक्तिमान क्यों नीचे उतर कर आए? क्यों मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले? क्या वह जहाँ है, वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता?

अवतारवाद बनाम दास्य-भावना :

अवतारवाद के मूल में एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? अतः संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे वस्तुतः मनुष्य नहीं थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे, तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा, बेचारा आदमी यह सब-कुछ कैसे कर सकता था?

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को विध्वंस करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो, सब प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र-से-शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है।

अवतारवाद कहता है कि देखना, तुम कहीं कुछ कर न बैठना। तुम मनुष्य हो, पामर हो, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम, भला दो हाथ वाला हाड़-मांस का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, परले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूलरूप में दास्य-भावना का पृष्ठ-पोषक है।

अवतारवाद की मान्यता पर खड़ी की गई संस्कृति मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता में विश्वास नहीं रखती। उसकी मूल भाषा में मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नहीं है, वह एकमात्र जगन्नियंता ईश्वर के हाथ में है। वह, जो चाहे कर सकता है। मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली मात्र है। पुराणों की भाषा में वह **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** के रूप में सर्वतंत्र स्वतंत्र है, विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट् है। गीता में कहा गया है **"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"**[1] वह सब जगत् को अपनी माया से घुमा रहा है, जैसे कुम्हार चाक पर रखे मृत्पिंड को, सूत्रधार जैसे काष्ठ की पुतलियों को घुमाता है।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरों पर

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता, १८।६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे, इसीलिए तो श्रमणेतर-संस्कृति का ईश्वर कहता है—"मनुष्य! तू मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर। तू क्यों डरता है? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास!"[२] बस इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नहीं।

अवतारवाद या शरणवाद :

कोई भी तटस्थ विचारक इस बात पर विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नहीं? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं उठा सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक-स्तर बराबर नीचे गिरता जा रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते, सिर्फ पाप के फल से बचना चाहते हैं। और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं मानते, बल्कि केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार राम, कृष्ण आदि की शरण में पहुँच जाना ही इनकी दृष्टि में सबसे बड़ी साधना है, बस इसी से बेड़ा पार हो जाएगा। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिए तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हों और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र नारायण को पुकारने भर से सर्व-नियन्ता नारायण के दूत दौड़े आते हों एवं उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग में ले पहुँचते हों, वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है? सस्ती भक्ति, धर्माचरण के महत्त्व को गिरा देती है और इस प्रकार अन्ध-भक्ति से पल्लवित हुआ अवतारवाद का सिद्धान्त जनता में 'शरणवाद' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पाप करो, और उसके फल से बचने के लिए प्रभु की शरण में चले जाओ।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्शमात्र रह जाते हैं, वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम-कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं, तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झट-पट कह उठते हैं कि "अहा, क्या कहना है! अजी भगवान् थे, भगवान्! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है!" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा, दया, सत्य, परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं, अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है, आचरण करने के लिए नहीं। भला, सर्वशक्तिमान ईश्वर के कामों को मनुष्य कहीं अपने आचरण में उतार सकता है?

अवतारों का चरित्र : श्रव्य या कर्तव्य?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषों को ढंकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप में माने जानेवाले व्यक्ति का जीवन चरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है, तो वह विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है। किन्तु अवतार-वादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं—"अरे, तुम क्या जानो? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी! हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए!" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतन्त्र चिन्तन एवं गुण-दोष के परीक्षण

---

२. अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'—गीता १८।६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सिंह-द्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना, तो वह चौंक उठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण! कुछ समझ में नहीं आया! उस समय श्री शुकदेवजी ने, कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है। वे कहते हैं—"राजन्! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए हैं, आचरण करने के लिए नहीं।" कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं, जिनके जीवन-वृत्त केवल सुनने के लिए हों, विधि-निषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं? क्या इनके जीवन-चरित्रों से फलित होनेवाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतारवाद को विचार-परम्परा में एकमात्र नकार के अतिरिक्त, और कुछ भी स्थान नहीं मिल सकता।

'अवतरण' नहीं, 'उत्तरण':

श्रमण-संस्कृति का आदर्श, ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप में अवतरण नहीं माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण-संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजर नहीं है, प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयंसिद्ध ईश्वर है। परन्तु, जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा।

हाँ तो, ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक-शक्तियों का पुंज बन कर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अर्हन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्धदशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। कहा भी है—**"कर्म-बद्धो भवेज्जीवः, कर्ममुक्तस्तथा जिनः।"**

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर उत्प्रेरित करता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर उत्साह भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह उद्घोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना और घृणा, जो भी कड़वे-से-कड़वे रूप में मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त-पथ से विचलित नहीं हुई। उसकी हर कदम पर यही ध्वनि रही कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श सिखा सकता है? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व से हमें क्या कुछ मिल सकता है? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्यदेव आदर्श हो सकता है, जो कभी हमारे जैसा मनुष्य रहा हो, हमारे समान ही संसार के सुख-दुःख एवं माया-मोह से संत्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक-जागरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को ठुकरा कर निर्वाण-पद का पूर्ण अधिकारी बना हो, फलस्वरूप सदा के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर, अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो।

'जन' में 'जिनत्व' के दर्शन :

श्रमण-संस्कृति के तीर्थंकर, अर्हन्त, जिन एवं सिद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे। वे कोई प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार भी न थे, अलौकिक देवता न थे। वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के सामान्य प्राणी थे, पाप-मल से लिप्त एवं दुःख, शोक, आधि, व्याधि से संत्रस्त थे। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादि-काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझा-वात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक-साधना के पथ पर आए, तो सम्यक्-दर्शन के द्वारा जड़-चेतन के भेद को समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर पर विचार किया, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्पथ के पथिक बन गए और आत्म-संयम की साधना में लगातार ऐसी तपःज्योति जगाई कि दृश्य ही बदल गया। तपः साधना के बल पर एकदिन उन्होंने मानव का वैसा दिव्य जीवन प्राप्त किया कि आत्म-साधना के विकास एवं वरदान स्वरूप अर्हन्त, जिन एवं तीर्थंकर के रूप में प्रकट हुए। श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र एवं धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण-चिन्ह मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक साधारण-जन में जिनत्व के अंकुर हैं, जो उन्हें अपनी साधना के जल-सिंचन से विकसित करके महावृक्ष के रूप में पल्लवित कर सकता है, उसे 'जिनत्व' का अमर-फल प्राप्त हो सकता है। राग-द्वेष-विजेता अर्हन्तों के जीवन-सम्बन्धी उच्च आदर्श, साधक-जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है, अपितु जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं, अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए मनुष्यों के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड-ज्योति जगा देता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org